64 No. 2

—ओ३म् तत्सत्:—

सहज मार्ग

SAHAJA MARGA

Shri Ram Chandra Mission
Publication Department
SHAHJAHANPUR U. P. (India)
1964. No. 2
Annual Subscription Rs. 3/- Per Copy Re. 1/-

सम्पादक मंडल

श्री काशीराम अग्रवाल (शाहजहाँपुर) हिन्दी विभाग
श्री सूर्य प्रसाद श्रीवास्तव (लखीमपुर-खीरी) अंग्रेजी विभाग

—: विषय-सूची :—

हिन्दी :—	लेखक	पृष्ठ संख्या
प्रार्थना : सम्पादक की बात		
१—परम पद	समर्थगुरु महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़	१
२—साधना का मार्ग	श्री रामचन्द्र जी अध्यक्ष, श्री रामचन्द्र मिशन	५
३—प्रार्थना	श्री राजेश्वरी प्रसाद श्रीवास्तव बी. ए. आनर्स, एम. ए.	७
४—धर्माचार्य - सिद्धगुरु और अवतार गण	सुश्री कुमारी शशि टण्डन	११
५—रंगीनी	श्री राघवेन्द्र राव हासन (दक्षिण भारत)	१६
६—वर्तमान भारतीय दर्शन में साधना का प्रभाव	श्री जगदीश प्रसाद, आसाम	१८
७—सहज मार्ग (कविता)	श्री हरिशचन्द्र श्रीवास्तव, शाहाबाद	२१
८—गृहस्थ जीवन और मिशन	श्री सुरेशचन्द्र एम. ए.	२२
ENGLISH :—		
1-Travel Light	*Sri Ram Chandra Ji (President)*	1
2-Reorientation of Religiousness	*Sri Raghavendra Rao Bsc., B.E., M.I.S.E.*	4
3-My View of the Master	*Sri B. D. Mahajan*	9
4-Groaning Humanity	*Sri Bishnu Sahai Srivastava*	16
5-Pranahuti (A Scientific Process)	*Sri Ishwar Sahai*	20

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जागृत प्राप्य बरान्निबोधत ।
(उठो ! जागो ! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो!)

वर्ष ८ | संवत् २०२१ विक्रमी | Year 8
अङ्क २ | Year 1964 | No. 2

प्रार्थना

हे नाथ! तूही मनुष्य जीवन का ध्येय है,
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक है,
तूही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है,
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है ।

O, Master !
Thou art the real goal of Human life.
We are yet but slaves of wishes,
Putting bar to our advancement.
Thou art the only God and Power
to bring me upto that stage.

सम्पादक की बात—

हमें खेद है कि पत्रिका का पिछला अंक छपाई की कठिनाइयों के कारण ठीक समय पर प्रकाशित न हो सका। इसके लिये हम क्षमा-प्रार्थी हैं। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिये हम प्रयत्नशील हैं और आशा करते हैं कि यह शीघ्र दूर हो जायँगी।

प्रकाशन के व्यय में वृद्धि के कारण पत्रिका का आकार बड़ा करने के साथ इसके पृष्ठों की संख्या घटाने के लिये हम विवश हो गये हैं। अतः अब पत्रिका ४८ पृष्ठों की हुआ करेगी। पत्रिका की ग्राहक संख्या बढ़ जाने पर, सम्भव है कि, व्यय की कठिनाई सुलझ जाए और पत्रिका पूर्ववत् पुनः निकलने लगे।

यहाँ पर यह भी स्पष्ट कर देना उचित होगा कि हमारे 'प्रेसीडेण्ट' महोदय का दक्षिणी भारत का दौरा लगभग २० नवम्बर १९६४ से आरम्भ होकर दो मास तक रहेगा। वे लगभग २ जनवरी, १९६५ तक ही शाहजहाँपुर वापस आ सकेंगे।

—परम पद—

[समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़]

★ क्रमागत ★

(चतुर्थ पद का निर्देश)

यथार्थ वस्तु (ज़ात) ही सबकी असल है, जिसकी ओर दृष्टि मुश्किल से जाती है। एक अर्थ में उसका न नाम है न रुप और दूसरे अर्थ में समस्त नाम और रुप उसी के हैं। वह सबका आधार है और स्वयं निराधार है। सब उसी के आश्रित हैं और वह किसी के आश्रित नहीं। वह यथार्थ वस्तु है और यथार्थता (केवल हमारी दृष्टि से) उसकी शान है। वह पूर्ण है और पूर्णता (हमारे विचार से) उसका गुण है। यथार्थ और पूर्ण उसे हम स्वयं कहते हैं और यह शब्द अपने समझने-बूझने के लिये गढ़ लिये हैं, जिसमें कुछ तो उसका अनुभव हो जाये और हमको चैन आ जाये, क्योंकि मात्र वही वास्तविक स्थिरता (चैन) है। उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझना चाहिए कि एक वस्तु है जिसके नीचे की ओर विचार सम्बन्धी सूक्ष्म रुप में धुएँ की तरह उसकी सत्ता घेरा डालकर खेला करती है, इस सत्ता को माया कहते हैं। यह वहाँ बहुत ही सूक्ष्म कणों के रुप में उस वस्तु के सहारे चक्कर खाती हुई खेला करती है, और उसकी छाया ले ले कर तरह-तरह की सूरतें गढ़ा करती है। इस सत्ता का अपना अलग अस्तित्व कोई भी नहीं। वह उसी वस्तु के अस्तित्व से 'अस्ति' और 'नास्ति' प्रतीत होती है, जैसे कि शक्ति शक्तिवान के आधार पर है। शक्ति अपने आप में अलग नहीं है, किन्तु क्रिया-कलाप के सिलसिले में वह अपने अस्तित्व को अनुभव कराती रहती है।

सत्ता अथवा माया

इस सत्ता में जो सत्तावान या पूर्ण यथार्थ वस्तु की छाया पड़ी उसको अपने अन्दर लेकर उस सत्ता ने एक क्षेत्र या वृत्त बनाया और उसमें समस्त छाया रूपी

शक्ति को सोखती हुई स्थिर हुई। उसके नीचे दूसरा क्षेत्र अथवा वृत्त बना जो इस सत्ता का प्रतिबिम्ब मात्र था और नीचे होने के कारण उसमें अधेरा आया।

जब दीपक जलता है तो उससे धुआँ निकलता है और यह ठहर कर अपना स्थान बनाता है और काला होता है।

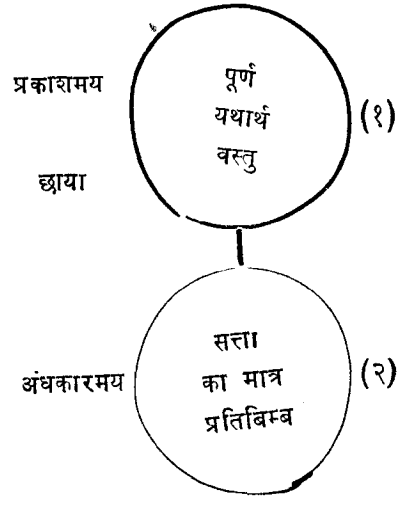

इस प्रकार दो वृत्त अथवा क्षेत्र बन जाते हैं, एक प्रकाशमय और दूसरा अन्धकारमय है। प्रकाशमय क्षेत्र की धार बराबर अन्धकारमय क्षेत्र तक जारी रह कर बराबर आती जाती रहती है।

धार के इस आने जाने के क्रम में बीच में एक और क्षेत्र बन जाता है, जो डमरू-मध्य की भाँति मध्यस्थ, बिचला और दरमियानी होता है। यह तीन नीचे के मायावी वृत्त हैं, जो गुण या सिफ़त के साथ हैं।

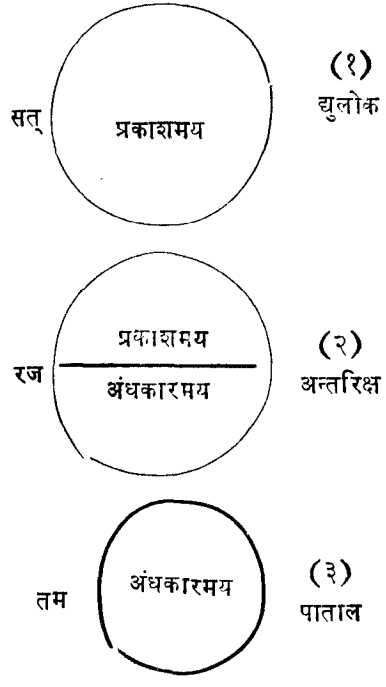

अन्तर (दरमियानी)- इक्ष (नक्षत्र) मध्यस्थ क्षेत्र नक्षत्र की भाँति झिलमिल चमकता हुआ।

'द्यु', रचना का सिर है, 'पाताल' पाँव है, 'अन्तरिक्ष' को दिल या मन समझना चाहिए।

इन तीनों में यथार्थ वस्तु की प्रतिबिम्बित धार आती है, और वह खेल करती रहती है इससे तीन लोक बन जाते हैं।

१-(सिर) चैतन्य-लोक उच्चस्थ	२-(दिल) मध्यलोक मध्यस्थ	३-(पैर) जड़ लोक निम्नस्थ

त्रैलोक्य

अब फिर चैतन्य और जड़ के मिश्रण से रचना होने लगती है। इस रचना को समझने के लिए दिल (हृदय) एक पुस्तक है। इसमें चैतन्य और जड़ता का मिश्रण है, अत: दोनों को समझने की शक्ति और योग्यता आती है।

सत् में चेतनता है, तम में मूढ़ता या जड़ता है और रज में प्रयत्न और क्रियाशीलता, विचार और चिन्तन है। सत् में आध्यात्मिकता है, तम में शारीरिकता है और रज में आत्मा और शरीर दोनों का मिश्रण है। सिर में आत्मा है, नीचे के भाग में आत्मा का प्रतिबिम्ब है जो कि शारीरिकता है और हृदय (दिल) में आत्मा और आत्मा के प्रतिबिम्ब अर्थात् शरीर की मिश्रित दशा है।

सत् में या सिर में कारण देह है, तम या अधोभाग में स्थूल देह है, रज अर्थात् मध्य भाग में सूक्ष्म देह है। यह तीनों मिलेजुले हुए अजीब तरीके से काम करते रहते हैं। सत् में आनन्द है, तम में अस्तित्व (सत्) है और रज में चित् या ज्ञान है जो बीच की अवस्था है। ज्ञान केवल बीच की दशा का नाम है।

तम का धर्म कर्म है जो अस्तित्व के अभिव्यक्ति का प्रारम्भिक चरण है और जागृति है। सत् का धर्म केवल आनन्द और सुख है और शान्ति तथा स्थिरता है जो शारीरिक क्रिया-कलाप की चरम अवस्था है और सुषुप्ति है। रज का धर्म ज्ञान है जो बीच की अवस्था है और स्वप्न है।

द्यु में चैतन्य अर्थात् प्रकाश या अभिव्यक्ति की शक्ति का ठोस सपना है जो जमी हुई अवस्था है। इस कारण सुषुप्ति में ज्ञान नहीं होता। ज्ञान तो केवल हृदय का वैशिष्ट्य है जो जड़ और चैतन्य दोनों पर नियन्त्रण रखने का इच्छुक रहता है। वह तो वहाँ जाकर उसके प्रभाव के अन्तर्गत आते ही डूब जाता है और अपनी हैसियत भूल जाता है। किन्तु यदि वह साधन करके अपने होश को कायम रखता हुआ उस पर चढ़े और चौकन्ना बना रहे तो उसका बाख़बर (ज्ञान युक्त) रहना सम्भव है अन्यथा नहीं। स्थूल देह के क्रिया-कलाप में भी तो बहुधा हृदय डूब जाता है और अपनी वास्तविकता के ज्ञान को खो बैठता है।

यह साधन वह उपाय है जिससे कि सुषुप्ति में बेख़बरी न आवे और जैसे स्थूल शरीर के क्रिया-कलाप में मन सोचता हुआ काम करता है और उसकी समझ रखता है वैसे ही यदि सुषुप्ति या आत्मा का आनन्द लेता हुआ अपने सोच विचार को कायम रक्खे तो वहाँ भी बाख़बरी की अवस्था प्राप्त हो। इसका साधन उपासना का प्रारम्भिक अङ्ग है।

(क्रमशः)

★ ★ ★

[मालिक की हैसियत से काम करना अधिक प्रभावशाली होता है। इसका अर्थ यह है कि स्वयं वह नहीं बल्कि मालिक वह काम कर रहा है। यहां पर फिर वही "विलोम वाद" का मसला आ जाता है अर्थात् मालिक बन्दा हो जाता है और बन्दा मालिक अर्थात् दोनों अपनी हैसियत खो बैठते हैं। फिर आगे क्या होता है···· ····जो जाने सो जाने।

× × ×

यदि प्रार्थना भी की जाय तो भी बात यही हो जायगी। तवज्जह खुद बखुद जाने लगेगी और उसको साधक रोक न सकेगा। और प्रार्थना बड़ी सरल हो जायगी। काम करते समय दिल को ख्याल की तेजी की तरह न लगा दे बल्कि बहुत ही हल्का ख्याल बाँधे तो यह बहुत प्रभावशाली होगा।]

★ ★ ★

साधना का मार्ग

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्रीरामचन्द्र मिशन)

ईश्वर के रास्ते में जो बातें भी आती हैं वह सब हमारे भले के लिए आती हैं। अगर रुकावटें भी हैं तो इसका अर्थ यह है कि मालिक को उन्हें दूर करने के लिए हमारे खयाल में रहना पड़ेगा। तो फिर इससे अधिक हमें और क्या चाहिए कि मालिक का खयाल हमारी ओर रुजू हो। समस्त पूजा और ध्यान का यही उद्देश्य होता है कि मालिक की निगाह किसी प्रकार हम पर फिरने लगे। किन्तु मालिक की निगाह हम पर तभी फिरती है जब उसकी खोज में गड्ढा या ऊँची नीची जगह आ जाती है। सूरदास जी चूँकि अन्धे थे, बेचारे कृष्ण के प्रेम में लकड़ी से कुआँ न टटोल सके और उसमें गिर गए। अन्त में श्री कृष्ण जी ने अपने हाथों उन्हें निकाला। कितना सौभाग्य था कि कृष्ण जी के हाथ उनके शरीर पर पड़े, गोया कि कुँए में गिरने से उनकी पवित्रता और बढ़ गई।

जब तक अहमियत (अहंता) मौजूद है इन्सान अपनी तारीफ से प्रसन्न भी होता है और जब कोई उसको भला-बुरा कहता है तब बुरा मालूम होता है। अहमियत का कोई ठीक नहीं- न मालूम यह कहाँ तक जाती है और शुद्ध अहमियत से तो बहुत दिनों में पीछा छूटता है, और यही तारीफ शुद्ध माया और शुद्ध अहंकार की है यह दोनों वस्तुएँ बहुत शक्ति रखती हैं और योगी अधिकतर इन्हीं से गिरता है। सर्वशक्तिमान ईश्वर अपनी दया कर।

एक बात मैं तुम्हें और बतलाता हूँ कि मान और अपमान इन दोनों से हमें कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। अपमान तो बहुत शीघ्र छूट जाता है किन्तु भाई! मान का तोड़ना सच में ईश्वराधीन है। जब ईश्वर की हमारे ऊपर पूर्ण कृपा होती है तभी पीछा छूटता है फिर भी जब तक शरीर मौजूद है, कुछ न कुछ यह अवश्य शेष रह जाता है। मैं अपनी कमजोरी भी लिखता हूँ, जब कोई मेरी प्रशंसा करता है तो चित्त मेरा भी प्रसन्न हो जाता है किन्तु यह बात अवश्य होती है कि एक तो चित्त बहुत कम प्रसन्न होता है और दूसरे होता भी है तो मुझे यह अनुभव नहीं होता कि किसकी प्रशंसा हो रही है और कौन प्रसन्न हो रहा है। हम जब अभ्यास शुरू करते हैं तो हमारी निगाह मालिक पर रहती है और अपना रिश्ता फिर बन्दे का हो जाता है। अब जो बन्दगी की डोर मालिक तक हमने इस हद तक पहुँचा दी है, तो उसको खबर होने लगी कि कोई उसकी याद कर

रहा है। गोया वह अब तुमसे मुखातिब होने लगा, और जब वह मुखातिब होने लगा तो उसके पास क्या था ? बेपरवाही विशेष रुप से, और वह असल चीज जिसके कारण वह मालिक बना है, गोया वही चीज अब तुममें भी उतरने लगी, अर्थात् तुम्हारी भी हैसियत कुछ न कुछ वैसी ही बनने लगी गोया थोड़ी बहुत निस्बत तुममें भी आने लगी। या यूं कहो कि उसकी झलक बहुत कुछ अब तुममें भी पैदा हो गई। अब चूंकि तुमने बन्दा होने का रिश्ता लेकर उसकी याद की है इसलिए तुम्हारी चीज भी अब उस तक पहुँचने लगी। और जब तुम्हारी चीज उस तक पहुँची ? वही बन्दगी और भक्ति का खयाल, और यह चीज पहुँचती ही रही यहाँ तक कि तुम अपने को भूलने लगे। जब यह हाल हो गया तो वह चीज चूंकि उस तक पहुँच चुकी थी अर्थात् बंदगी और भक्ति का खयाल– अतः तुम्हें यह मालूम होने लगा कि वह स्वयं अब तुम्हारे खयाल में है। इसी प्रकार बहुत सी दशाएँ समझ में आती हैं, उदाहरणार्थ अन्तर्मुखी आदि। वह सब उसी की ओर से मालूम होती हैं। इस प्रकार भक्ति का एक नया अङ्क खुल जाता है।

तुमने बहुधा यह लिखा है कि शरीर पिघल-पिघल कर बहता है। एक बात लिखता हूँ जो सम्भव है इसके जवाब के लिए पर्याप्त हो, वह यह कि जब हम तबियत से और प्रेम से अभ्यास करते हैं तो पिछले विचारों का जो प्रभाव है वह सब दूर होता जाता है और परमाणु भी पुराने गिरते जाते हैं। और अच्छे परमाणु उसकी जगह पर बनते जाते हैं। परमाणु तो वैसे प्रत्येक शरीरधारी के उसके विचार के अनुसार परिवर्तित होते रहते हैं और जो ईश्वर की ओर प्रेमपूर्वक बढ़ता है उसके उसी रूप में परमाणु बनते हैं।

असल प्रेम वही है कि प्रेम करते-करते प्रेम की खबर न रहे। जब यह हालत पैदा हो जाती है तो फिर असल में भिदाव शुरू हो जाता है और तबियत नम्र बनती चली जाती है। इसी हालत में या इससे और आगे बढ़कर भक्तों ने कहा है कि:—

"बिना भक्ति तारो, तब तारिबो तिहारों है।"

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धत्।

—प्रार्थना—

(श्री राजेश्वरी प्रसाद श्रीवास्तव, बी. ए. आनर्स, एम. ए. सीतापुर)

ईश-प्रार्थना तो अनेकधा की जा सकती है। सभी प्रार्थनायें अच्छी हैं; उनमें उत्तम बातें भी हैं और वे उस महानतम के आराधन हेतु अच्छा साधन भी बन सकती हैं, पर वह प्रार्थना जो हमारे सहज-मार्ग' की है वह सरल, संक्षिप्त, सुबोध, सरस, सारपूर्ण, प्रभावी और सम्पूर्ण है। इसे हम साधारण नहीं कह सकते। उसमें चित्त-वृत्तियों को ईश्वरोन्मुख करने की असाधारण क्षमता है। यह ऋचा से कम नहीं- मेरा ऐसा अनुमान है। प्रार्थना इस प्रकार है:—

हे नाथ, तूही मनुष्य जीवन का ध्येय है।
हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं।
तू ही हमारा एकमात्र स्वामी और इष्ट है।
बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

ये उपर्युक्त चार पंक्तियाँ हमारे 'सहज-मार्ग' की प्रचलित दैनिक प्रार्थना हैं। भले ही इन पंक्तियों में कविता के गुण न भासते हों, पर यदि हम इनका गहन-मनन करें तो वे अवश्य ही हमें काव्य-मय ज्ञात होंगी। एक अच्छी प्रार्थना में यह गुण होना चाहिये कि वह संक्षिप्त हो— न इतना विस्तार कि उसके कहने में अधिक समय लगे तथा ध्येय से दूर हो जाये और न इतनी छोटी ही हो कि हमारा विषय ही लुप्त हो जाय। जब हम इस दृष्टि से अपनी दैनिक-प्रार्थना को कसौटी पर कसते हैं तो वह नितान्त खरी उतरती है।

एक उत्तम प्रार्थना की परिभाषा यही है उसमें आराध्य और आराधक के मध्य सम्पर्क की घनिष्टता तीव्रतर स्थापित हो जाय। इस निमित्त उसमें चार तत्वों का होना अत्यावश्यक है। तथा:— (१) ध्येय की स्पष्टता, (२) स्वदशा का सुस्पष्ट वर्णन (३) आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण, और (४) आराध्य का आह्वान। अब हम इनकी कुछ विस्तार में विवेचना करेंगे।

ध्येय की स्पष्टता

किसी भी कार्य को करने से पूर्व लक्ष्य और ध्येय को सुनिर्धारित कर लेना एक श्रेष्ठ विचार है। यदि हमारा लक्ष्य सुस्पष्ट, सुपरिभाषित और प्रेरणा-दायक नहीं है तो हमें भयावह संकटों का सामना करना पड़ जायगा। यह भी सम्भव है कि हम पतन के ऐसे गर्त में गिर जायँ जहाँ से जन्मजन्मान्तर हमारा उठ सकना सम्भव न हो पाये। अतः हमारे प्रत्येक कर्म विवेक और विचार की उत्तमता के साथ सम्पन्न हों, इसके लिये वैसा ही श्रेयस्कर हमारा ध्येय भी

निर्धारित होना चाहिये। "हे नाथ तू ही मनुष्य जीवन का ध्येय है" हमारी दैनिक प्रार्थना की प्रथम-पंक्ति है और है हमारे लिये एक सुन्दर आदर्श।

प्रार्थना भक्ति का एक सुन्दर चिह्न है। इसका सामान्य-सिद्धान्त, जो सर्व शक्तिमान और सबका स्वामी है, उसके खोज के लक्ष्य का निरूपण कर देती है। वही वह शक्ति है जो हमें अन्तिम मञ्जिल तक ले जा सकती है। जो हमारा सबसे बड़ा मालिक है, उसके प्रति असीम श्रद्धा, भक्ति और प्रेम हमारे हृदय में उदय हो, इसीलिए हम प्रार्थना करते हैं। यही ध्येय की स्पष्टता है। इसके द्वारा यह प्रकट हो जाता है कि हमने उस परम-पावन शक्ति से सम्बन्ध जोड़ लिया है। हमारे हृदय में भक्ति का स्रोत खुलते ही प्रेम उस परम सत्तावान की ओर प्रवाहित होने लगता है और हमारी डोर उससे लग जाती है। और तब सेवक उस ईश्वर की अनुपम कृपा-धार (फैज) में ओत-प्रोत होने लग जाता है।

प्रार्थना भक्ति तथा प्रेम-भरे हृदय से करने का कारण यह है कि पहले साधक अपने को शून्यता की दशा में लाये ताकि दिव्य-कृपा की धार उसकी ओर आ सके। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रार्थना के द्वारा अभ्यासी पहले अपने को उसके योग्य पात्र बनाये जिससे उसकी आत्मिकउन्नति का द्वार खुल जाय। इसी उद्देश्य से "सहज मार्ग" के नियम द्वय में स्पष्ट कर दिया गया है— "पूजा प्रार्थना से आरम्भ की जावे। प्रार्थना आत्मिक उन्नति के लिये होना चाहिये और इस तरह पर की जावे कि हृदय प्रेम से भर आवे।"

इसी सन्दर्भ में तीसरा नियम भी महत्वपूर्ण है—"प्रत्येक भाई को चाहिये कि अपना ध्येय निश्चित कर ले और वह यह कि ईश्वर तक पहुँचकर उसमें अपनी लय-अवस्था प्राप्त करके पूर्ण स्थिति प्राप्त करले और जब तक यह बात प्राप्त न हो जावे चैन न आवे।"

हर एक के लिये प्रारम्भ से ही ऐसा करना अतीवावश्यक है। अध्यात्मिकता के पथ पर चलने के लिये लक्ष्य की सुस्पष्टता उतनी ही वाञ्छनीय है जितनी कि लौकिक जीवन की सफलता के लिये। जैसे समुद्र को पार करने के लिये डांड के साथ-साथ नौका को खेने के लिये पतवार को भी ठीक रखना आवश्यक है वैसे ही आध्यात्मिक उदधि के पार उतर जाने के लिये भी जीवन नौका की पतवार को सुस्थिर रखना अपेक्षित है। हमारा दृढ़ संकल्प ही पतवार है। अध्यात्मिकता के सहारे संसार-सागर पार करने के लिये ही दृढ़ संकल्प की अपेक्षा है। तभी हमारी यात्रा पूरी हो सकेगी। ईश्वरी-सहायता तभी मिलती है जब वह आश्वस्त हो जाय कि साधक में इसके लिये पक्की उत्सुकता और लगन है। इसी के द्वारा हम वह बेचैनी और तड़प उसके प्रति प्रकट कर सकेंगे। अतः यह लय अवस्था के लिये परमोपयोगी है।

इसका निष्कर्ष यही है कि निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हम अपने में उत्कट इच्छा और तीव्र-तड़प उसी प्रकार उत्पन्न करलें जिस प्रकार सृष्टि के समय क्षोभ और दोलन हुआ था। इतना हो गया तो मार्ग सुगम ही है।

स्वदशा का सुस्पष्ट वर्णन

ध्येय स्पष्ट हो जाने के बाद प्रार्थना में दूसरा स्थान निजकी दशा के वर्णन का स्वरूप आता है। हमारी प्रार्थना की दूसरी पंक्ति "हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं" का संकेत इसी ओर है। यह हमारी इच्छायें ही हैं जो लक्ष्य तक पहुँचने नहीं देती और बीच में ही बाधा डाल देती हैं। इस प्रकार वे "प्राप्ति-विरोधी" शक्तियाँ बन जाती हैं। वास्तव में हमारी नाना इच्छायें और वासनायें हममें तृष्णा उत्पन्न करती हैं। इनका सम्बन्ध काम, भव-विभव से रहता है। ये सदैव अतृप्त रहती हैं और हमारे आवागमन का कारण बन जाती हैं। इसको न समझना ही अविद्या है।

हमारा आधुनिक जीवन तो और भी जटिल तथा गया-बीता बना हुआ है। भ्रष्टाचार, अनैतिकता, असंयम चारों ओर व्याप्त है। हम सही दिशा से बहुत हट गये हैं। इनके भी मूल में वही अविद्या और तृष्णा है। अतः यह चिर-सत्य है कि हमारा जीवन दुःखमय रहा है और अब भी उसी प्रकार है। आगे भी वह दुःख पूर्ण ही रहेगा। यह दूर तभी हो सकता है जब पुरुष प्रकृति के संयोग से मुक्त हो अपने सत्य-स्वरूप में अवस्थित हो। यह अवस्था तभी उत्पन्न हो सकेगी जब जीव-जगत दृष्ट-दृश्य का भेद स्पष्ट हो जाय और आत्मा पर छाये युगों के मानवता के आवरण हटने लगें। यह सुदशा पाने का सरल उत्तम उपाय यही है कि उस महाप्रभु के आगे बड़े ही अनुनय-विनय और दीनता के साथ अपनी हीन दशा का वर्णन करें और उसे स्वीकार करें। ऐसा करने से हमारा मार्ग उस तक पहुँचने के लिये निश्चय ही खुलेगा। इसमें कोई संशय नहीं। यही हमारा एक कदम चलना है और तब वह महाप्रभु सौ कदम चलकर हम तक आयेगा। इस प्रकार हमारी चित्त-वृत्तियों के निरोध का कार्य आरम्भ होगा और नये संस्कारों का बनना बन्द होने लगेगा। उनका मलिन रूप हटेगा और निर्मल स्वरूप उदय होने लगेगा। अन्ततः हमारी साधना का मार्ग प्रशस्त होगा।

आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण

लक्ष्य निर्धारण और स्वदशा का सुस्पष्ट वर्णन के बाद प्रार्थना का तीसरा महत्वपूर्ण अंग है आराध्य (महाप्रभु) के प्रति अपना पूर्ण समर्पण कर देना। यह

आवश्यकता इसलिये है कि वह सर्वशक्तिमान है और है हमारे लिये दोनों–साधन तथा साध्य। अतः हमको चाहिये कि हम पूर्ण रूपेण उसकी विशाल बाहों में अपने को डाल दें। यह भावना कि हमारा अपना कुछ नहीं, जो है सब उसी का है। जो कुछ होगा उसकी ही मरजी से होगा। यह विश्वास उत्पन्न होना ही उस तक पहुँचने का मूल-मन्त्र है। तभी हम अपने सुप्राप्य के योग्य पात्र बन पायेंगे। इस प्रकार अहम् का भाव दूर होगा और लय की दशा उभरने लगेगी।

मानव-पूर्णता इसी बात के ज्ञान में है कि मालिक वास्तव में मालिक है और व्यक्ति उसका दास जो उसकी सेवा में रत है। यह भाव वह शून्यता ले आता है, जो सर्व व्यापी को आकर्षित करता है और उससे कड़ी स्थापित कर देता है। हमारा कर्तव्य है कि यह प्रेम की डोर उससे लगी रखें ताकि उसकी दया हमको सीधी मिलती रहे। हमारी साधना और भक्ति का पहलू यहाँ एक नया मोड़ ले लेता है। यह हमारे लिये चेतावनी बन जाती है कि हम पाप की ओर पुनः न झुकें तथा उसका स्मरण निरन्तर बना रहे।

इस प्रकार का समर्पण मालिक के सम्मुख वह स्थिति है जिसमें अपने का भान न रहे। इसमें वही त्याग की भावना भरी है जो राम के भ्राता भरत में देखने को मिलती है। समर्पण में केवल आज्ञा-पालन ही शेष रह जाता है। प्रार्थना में समपर्ण का स्थान इसीलिये महत्वपूर्ण है कि वही ईश्वर-प्राप्ति का एक मात्र साधन है। हमारी प्रार्थना की तीसरी पंक्ति "तू ही एक मात्र हमारा स्वामी और इष्ट है" का सन्दर्भ उसी समर्पण से है। जब हमने उसको अपना एकमेव आराध्य स्वीकार कर लिया और उसकी इच्छा में ही अपने को डाल दिया तो समर्पण-हेतु और रह ही क्या जाता है? इसके अतिरिक्त हमें और कुछ जानना अभीष्ट नहीं।

आराध्य का आह्वान

इतना सब हो जाने के बाद प्रार्थना में यही अन्तिम और प्रधान बात रह जाती है कि हम उस महाप्रभु को ही सहायता के लिये पुकारें। इसीसे प्रार्थना की पूर्णता की समाप्ति होती है। है तो यह प्रार्थना का अन्तिम चरण पर है सर्वाधिक अपेक्षित। प्रार्थना तभी पूरी होगी जब आत्मा उस ईश्वर की खोज करे, उसके लिये प्रयास और प्रयत्न करे तथा असमर्थ होने पर बार-बार उसी को उद्धार के लिये पुकारे। जिस ईश्वर की प्राप्ति हमारा महान ध्येय है, जिसके

प्रति हमने अपनी दीनता प्रकट की, जिसके सम्मुख हमने पूर्ण समर्पण किया उसी को स्वउन्नति के लिये टेरना हमारा परमधर्म बन जाता है। वह हमारा पूर्ण स्वामी है। वही हमको उबार सकता है।

जिस प्रभु ने द्रौपदी की लाज रक्खी, गज की पुकार सुनी, अजामिल को एक ही टेर में तार दिया निस्सन्देह वह परम पिता हमारी सुनेगा इसमें कोई संशय नहीं। हम उस महाप्रभु तक उसी की कृपा और सहायता से पहुँच सकते हैं। जो हमारे लिये असम्भव है उसको वही सम्भव बना सकता है। इस प्रकार प्रार्थना की चौथी और अन्तिम पंक्ति "बिना तेरी सहायता, तेरी प्राप्ति असम्भव है" हमारी प्रार्थना को सम्पूर्ण बनाती है। यदि कहीं सौभाग्य से हमको योग्य और ब्रह्मनिष्ठ गुरु मिल गया तो हमारी उन्नति और सरल हो जायगी।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे 'सहज-मार्ग' की यह दैनिक प्रार्थना सक्षिप्त होते हुए भी जीवनानुकूल है, पूर्ण है और उसमें एक सुन्दर और उत्तम प्रार्थना के सभी गुण और तत्व विद्यमान हैं। इस कोमल-कान्त पदावली में वह प्रेरणा-स्रोत है जिसकी सरसता सदैव अमर रहेगी। निस्सन्देह यह हमको हमारे साधना-मार्ग में फलदायक सिद्ध होगी।

–"बाबू जी" महाराज के श्री चरणों में

★ ★ ★

ज्ञान वास्तव में वह है जो Supper concious दशा में जाने से मिलता है इसकी उच्चतम दशा वह है कि जहाँ पर यह चीज ऋचा का रूप धारण कर लेती है जिसके Verification के लिये यह श्रुति में परिवर्तित हो जाती है। अब इसके कम्पन श्रुति में कैसे परिवर्तित किये जाँय यह एक उच्च कोटि की कला है। जो वैदिक ऋषियों के बाद केवल मेरे गुरु महाराज को ही प्राप्त थी। वास्तविक ज्ञान की दशा तब कही जा सकती है जब कि हर गुत्थी अपने आप खुलने लग जावे। मेरी प्रबल इच्छा है कि हर साधक इस दशा को प्राप्त करने में सफल हो। श्रुति तब पैदा होती है जब ख्याल उस असल चीज से छूकर वहाँ पर कम्पन की दशा पैदा कर देता है। ख्याल जब केन्द्र के नीचे के स्थान से छूता है तो कम्पन पैदा हो जाती है। इस प्रकार से इस कम्पन के पैदा करने वाले हमीं होते हैं। यह कम्पन सागर में शान्ति लहरों के समान होता है। यही श्रुति का रूप धारण कर लेती है। जहाँ पर यह कम्पन पैदा होता है यह वह स्थान नहीं है जहाँ क्षोभ पैदा हुआ था बल्कि वह स्थान इससे बहुत ऊपर है। वह Central Region के सातों रिंग्ज पार करने के बाद आता है।

धर्माचार्य्य-सिद्धगुरू और अवतारगण

(सुश्री कु० शशि टण्डन)

भाग १

कर्मवाद की सत्यता अटल है, परन्तु फिर भी गुरू करना अत्यावश्यक है।

यह ईश्वरीय नियम है कि सभी आत्माओं को पूर्णता प्राप्त करनी होगी—सभी प्राणी एक दिन पूर्णावस्था को प्राप्त होंगे। हम लोग अतीत काल में जिस भाव से जीवन-यापन करते आ रहे हैं—हम लोगों की वर्तमान अवस्था उसी के फलस्वरूप है, और आज जिस प्रकार का कार्य व चिन्तन करेंगे उसी के अनुसार हमारा भविष्य होगा। यद्यपि यह कर्मवाद बिल्कुल सत्य है तथापि इसका यह मतलब नहीं कि आत्मोन्नति करने से और किसी प्रकार की सहायता नहीं लेनी होगी। आत्मा में जो गुप्त शक्ति रहती है वह सर्वदा दूसरी आत्मा के शक्ति संचार करने से जागृत हो जाती है. अन्यथा अधिकांश लोगों में (क्षेत्रों में) इस प्रकार की सहायता न होने से काम नहीं चल सकता। बाहर से शक्ति आकर हमारे आत्माभ्यन्तरस्थ शक्ति के ऊपर काम करती है, तभी आत्मोन्नति का सूत्रपात होता है।

उपरोक्त वर्णनीय ब्रह्म शक्ति, ग्रन्थ द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती। एक आत्मा दूसरी आत्मा से ही शक्ति प्राप्त कर सकती है। अन्य किसी प्रकार से नहीं। हमारा सारा जीवन विद्योपार्जन में लग सकता है, हम खूब बुद्धिमान भी बन सकते हैं किन्तु परिणाम देखने से मालूम होगा कि अध्यात्मिक उन्नति कुछ भी नहीं कर पायी। यह कहना कि बुद्धि के विकास के साथ साथ आध्यात्मिक उन्नति भी होती जायगी गलत है——अक्सर ऐसा ही देखा जाता है कि बुद्धि की जितनी उन्नति हुई आत्मा की उतनी ही अवनति। बुद्धि की वृद्धि में ग्रन्थों से बहुत सहायता मिलती है किन्तु आध्यात्मिक उन्नति में ग्रन्थ सहायता नहीं कर सकते, यह तो मानी हुई बात है। हम लोग धर्म के सम्बन्ध में लम्बी-लम्बी चौड़ी-चौड़ी सुन्दर वक्तृतायें तो देते हैं और दे सकते हैं परन्तु स्वयं धर्माचरण करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि बाहर से जो शक्ति हममें प्रवेशकर हमें धर्म जीवन बिताने में समर्थ करती है वह शास्त्र द्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती। आत्मा को जागृत करने के लिए दूसरी आत्मा से शक्ति ग्रहण करनी अति आवश्यक है।

जिस आत्मा से शक्ति मिलती है उसे गुरू और जिसमें शक्ति संचारित होती है उसे शिष्य कहते हैं। स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में, "उस शक्ति संचार करने में प्रथम जिससे शक्ति आती है उसमें शक्ति-संचार की शक्ति का होना आवश्यक है, दूसरे जिसमें शक्ति संचार होना है उसमें उसे ग्रहण करने की शक्ति का होना परमावश्यक है।" जब ग्रहण करने वाले में लगन होती है तभी धर्म (आत्म) शक्ति संचारक अवश्य मिलेगा। एक कहावत है—"एक पापी उद्धारकर्ता को खोजने निकला और वे भी उसी पापी का उद्धार करने निकले।" ग्रहण करने वाले (शिष्य) की आत्मा की, धर्म—आकर्षण शक्ति जब पूर्ण और परिपक्व होगी, तब वह जिस शक्ति को खोजता है अवश्य पावेगा।

जब हम यह कहते हैं कि हम सत्य-लाभ के लिये इतने व्याकुल हैं और फिर भी वह नहीं मिलता—तब हमारा यह प्रथम कर्तव्य हो जाता है कि हम अपनी अन्तरात्मा को देखें, टटोलें कि वास्तव में हमें धर्म-ज्ञान की आवश्यकता नहीं, हममें आध्यात्मिक तत्व—लाभ के लिये अभी धर्म पिपासा जागृत नहीं हुई है। फिर शक्ति संचारक मिलने में तो और भी अधिक सन्देह है। ऐसे भी इस संसार जगत में लोग हैं जो कि अहंकारवश अपने को सर्वज्ञाता समझ बैठे हैं—वे केवल इतने से ही शान्त नहीं होते, बल्कि वे चाहते हैं कि दूसरों को भी उसी अन्धकार में ले चलें। वे इस प्रकार "अन्धे को अन्धा रास्ता दिखलाने" की कहावत चरितार्थ करते हैं। ऐसे मनुष्यों की संसार में कमी नहीं। सभी गुरू बनना चाहते हैं। जिस प्रकार वह भिखारी जो लाख मुद्रा दान का प्रस्ताव करता है और हास्या-पद होता है उसी प्रकार ये गुरू भी हैं।

गुरू को किस प्रकार पहचाना जाय ? प्रथम तो सूर्य को देखने के लिए मशाल या बत्ती की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जिस प्रकार सूर्योदय होते ही स्वभावतः ही हम जान जाते हैं कि सूर्य निकल आया है, उसी प्रकार जब हमारे कल्याणार्थ किसी लोकगुरू का उदय होता है (या यूं कहिए कि ईश्वर अवतार रूप में इस संसार में अवतरित होता है) तब आत्मा स्वभावतः ही जान जाती है कि उसे सत्य वस्तु का साक्षात्कार हो गया। सत्य तो स्वतः सिद्ध है—उसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। वह स्वतः प्रकाशित है। उसका प्रकाश हमारी प्रकृति के अन्तरतम् देश तक प्रवेश कर जाता है और समग्र प्रकृति—समग्र जगत्

उसके सम्मुख दौड़ कर उसको सत्य कह कर उसकी सत्यता स्वीकार करता है।

शिष्य में सर्वप्रथम-पवित्रता, यथार्थ ज्ञान पिपासा और अध्यवसाय जैसे गुणों का होना आवश्यक है। अपवित्र व्यक्ति कभी धार्मिक नहीं हो सकता-यही शिष्य के लिए एक प्रयोजनीय गुण है। सब प्रकार की पूर्ण पवित्रता अति आवश्यक है। द्वितीय प्रयोजनीय गुण-यथार्थ ज्ञान पिपासा है। अपनी अन्तरात्मा से पूछना चाहिए कि क्या धर्म चाहिए ? सनातन विधान ही यही है कि हम जो चाहेंगे सोई पावेंगे। जो 'चाहोगे-पावोगे'। धर्म के लिए वास्तविक व्याकुलता होना बड़ा कठिन काम है। हम लोग साधारणत: उसको जितना सहज समझते हैं, यह उतना सहज नहीं। तिस पर भी हम लोग तो सदा यह बात भूल जाते हैं कि धर्म कथा सुनने या धर्म ग्रन्थ पढ़ने से ही धर्म नहीं होता। जब तक सम्पूर्ण जय-लाभ नहीं होता तब तक अविश्रान्त चेष्टा और अपनी प्रकृति के साथ अविराम संग्राम ही धर्म है। एक दो दिन, कई वर्ष या कुछ जन्म में ही धर्म लाभ हो जायगा यह कोई ठीक नहीं। हो सकता है कि प्रकृत--धर्म लाभ करने में सैकड़ों जन्म लग जायँ। इसके लिए तैयार हो जाना पड़ेगा। चाहे यह इसी मुहूर्त्त में हमें प्राप्त हो जाय या सैकड़ों सहस्त्रों जन्मों में भी लाभ न हो, परन्तु हमें उसके लिए उद्यत होना होगा। जो शिष्य हृदय में यह भाव लेकर धर्म साधन में अग्रसर होता है वही अपनी साधना में कृत् कार्य्य होता है।

आज सारी जातियों में, मन्दिरों में, गिरजों में-जहाँ गुरु शिष्य का वास्तविक पिता पुत्र जैसा सम्बन्ध नहीं होता अर्थात् (गुरु आध्यात्मिक चक्षुदाता नहीं होता और शिष्य में नम्रता, विनय, आज्ञापालन, भक्ति और विश्वास जैसे गुरु के प्रति भाव नहीं होते) वहाँ कहें तो कह सकते है कि धर्म्म शब्द का 'ध' अक्षर ही नहीं। सर्व प्रथम तो वास्तविक गुरू मिलना यदि असम्भव नहीं तो मुश्किल अवश्य है, कम से कम इस कलियुग में, दूसरे ऐसे पात्र भी नहीं कि गुरू उनमें उस भाव का संचार करे-क्योंकि जो स्वाधीन है, वह फिर शिक्षा ग्रहण किससे करेगा ? ऐसे जो शिक्षा लेने आते हैं, उनका उद्देश्य होता है शिक्षा को धन देकर खरीदना। मानो वह कहते हैं कि मुझे रुपये का धर्म दो। क्या हम लोग रुपया खर्च नहीं कर सकते ? किन्तु इस उपाय से धर्म-लाभ किया नहीं जा सकता। वास्तव में तो इस धर्म-तत्व-ज्ञान से श्रेष्ठ और पवित्र इस संसार में हो ही क्या सकता है ? ऐसा तो, मानव के योगी होने पर आप ही आप ज्ञान आ जाता है किन्तु पुस्तकों से यह लाभ नहीं किया जा सकता।

जब तक शिष्य गुरु को प्राप्त नहीं करते तब तक वह चाहे चारों दिशायें घूम आये अथवा हिमालय, केप कमोरिन सभी का विचरण कर आये- परन्तु उन्हें

ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। वास्तविकता व सत्यता तो इसी में है कि गुरु प्राप्त कर शिष्य को गुरु की ऐसी ही सेवा करनी चाहिए जैसी की एक सुपुत्र अपने पिता की करता है-गुरू के सम्मुख हृदय खोल दे-ईश्वर का अवतार समझकर उनका दर्शन करे। भगवान ने कहा है कि, "आचार्य्य को मुझे या भगवान समझो।" जो लोग इस श्रद्धा भक्ति के साथ सत्यता की खोज में अग्रसर होते हैं उनके निकट-भगवान अति अद्भुत तत्वों का प्रकाश करते हैं। ईसाइयों की बाइबिल में एक जगह लिखा है, "जूते निकाल डालो-कारण कि जहाँ तुम खड़े हो, वह भूमि पवित्र है।" जिस जगह उसका नाम लिया जाता है, वह जगह ही पवित्र हैं। अब यह विचारने की बात है कि जो भगवान का नाम जपते हैं, वह कहाँ तक पवित्र है। जिनके द्वारा आध्यात्मिक सत्य-लाभ होता है, वह कितने पवित्र है, उनके सम्मुख क्या कहा जाय कितनी भक्ति के साथ अग्रसर होना चाहिए। बिल्कुल ऐसे ही श्रद्धा व भक्ति से पूर्ण सत्य भाव से गुरु के सम्मुख उपदेश ग्रहण करने की आवश्यकता है। इस जगत् में इस तरह के गुरु बहुत ही कम हैं इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु जगत सम्पूर्ण रूप से ऐसे गुरू से खाली नहीं रह सकता। जिस दिन जगत् ऐसे गुरू से रहित होगा उसी दिन यह नरक-कुण्ड में पतित होगा और सब तरह से नष्ट भ्रष्ट हो जायगा। ऐसे गुरू मानव जीवन वृक्ष के पुष्प हैं। वह जगत् में है, जगतकर्ता के रूप में है, इसी से जगत का काम चलता है। ऐसी ही महान् आत्माओं के जीवन से जो शक्ति निकलती है, उसी ने आज समाज के बन्धन को बहुत ढीला नहीं होने दिया है।

(शेष अगले अंक में)

★

श्रुति में शब्द होता है और यह इतना धीमा होता है कि जब तक मन बिल्कुल शान्त न हो इसका अनुभव नहीं होता आकाश वाणी भी श्रुति का ही एक रूप है। प्रार्थना करने पर बहुधा ऐसा प्रतीत होता है कि प्रार्थना स्वीकार हुई अथवा नहीं। यह भी एक निम्न कोटि की श्रुति का रूप है। श्रुति के अक्षर भी होते हैं जो आवाज़ के उतार चढ़ाव से बनते हैं। गुरू महाराज के संदेश जो कंपन द्वारा प्राप्त होते हैं श्रुति का ही एक रूप है।

—रंगीनी—

(श्री राघवेन्द्र राव हासन, दक्षिण-भारत)

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल ।
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गइ लाल ॥

संसार में आते ही मनुष्य दूसरे को देखना आरम्भ करता है। बार-बार देखते-देखते देखने की इच्छा बढ़ा लेता है। प्राय: देखने की इच्छा के कारण ही देखने लगता है। सम्भव है कि इस देखने में उसको अपनी छाया दिखाई देती हो। आरम्भ में तो माता ही उसके लिये सब कुछ है परन्तु वह बड़ा हो जाता है तो माँ के अतिरिक्त दूसरी बातों पर भी उसकी दृष्टि जमने लगती है। जब इस दृष्टि के पीछे इच्छा, लोभ, स्वार्थ आदि शक्तियाँ काम करने लगती है तो उलझन तथा गड़बड़ पड़ने लगती है। इस प्रकार घर्षण उष्णता आदि मिलावट से सरलता अदृश्य हो जाती है एवं होते होते निज माता की भावना भी धुँधली पड़ जाती हैं।

अब उसको अपनी ही छाया से कभी घृणा अनुराग कभी क्रोध कभी कामना इत्यादि उत्पन्न होने लगती हैं। इस प्रकार वह अपने में वक्रताएँ बढ़ाने लगता है। अन्दर के संस्कारों से यह बातें उत्पन्न होती हैं तो बाहर के प्रलोभन भी कुछ कम नहीं होते। अब अन्दर भी गड़बड़ हैं एवं बाहर भी गड़बड़। आराम एवं शान्ति लुप्त है। कभी-कभी कोई बड़ा धक्का अथवा कठिन ठोकर लग जाती है तो ख्याल (विचार) कुछ पलटा खाता है परन्तु केवल अल्प समय मात्र तक। कारण यह कि वक्रता अधिक हो चुकी है। कुत्ते की दुम से भी अधिक वक्रता आ गई है।

इस बन्धन से निकलने की यदि इच्छा भी कभी आवे तो यह जादू ऐसा सर चढ़ा है कि ऐसे विचार को भी क्षण मात्र में भुला देता है। इसमें मानव इतना फँसा हुआ है की उसे यह विचार करने का भी अवकाश नहीं है कि वह वास्तव में कौन है ? इस ईश्वरीय कार्यालय में उसका क्या महत्वपूर्ण भाग है: वास्तव में क्या करना है, इत्यादि। मीठे एवं कड़ुवे पदार्थ खाता ही जाता है एवं नीचे की ओर ही अपना मुख किए हुए रहता है। इसी प्रकार समय बीतता जाता है वृद्धावस्था आई, शक्ति क्षीण हुई। रोग एवं मृत्यु की छाया से भय हो रहा है। तुरन्त कुछ पूजा पाठ करके ईश्वर की मुखस्तुति करना आरम्भ किया। पता नही

कि आगे क्या होने वाला है। लोग कहते हैं कि ईश्वर है क्या करें क्या न करें। अन्दर की स्थिति तो कठिन एवं ठोस हो चुकी है। साधारण बात भी समझ में नहीं आती। जो कुछ भी आती है वह अपनी ही इच्छा एवं समझ के अनुसार आती है।

यदि किसी को इन स्थितियों का विचार आजाये एवं विचार उस पर स्थिर हो जाये तो फिर वह इस बन्धन से मुक्त होने का विचार भी अवश्य करता है। इससे मुक्ति पाने का उपाय उस समय सम्भव होगा जब कोई ऐसा व्यक्ति उपलब्ध हो जावे जो वास्तव में मुक्ति पा चुका है वही इसमें हमारी सहायता कर सकता है। जिस प्रकार एक व्यक्ति अपनी ही विचार धारा को बढ़ाते बढ़ाते एवं विविध बातों पर लगाते लगाते अपने आपको इस अवस्था पर ले आता हैं उसी प्रकार इसी विचार की धारा की शक्ति से ही इस जाल से बाहर निकल सकता है। इसके लिये एक सरल उपाय यह है कि जिस तमाशे को हम सत्य समझ रहे हैं उसको हम सत्य का प्रतिबिम्ब समझ लें एवं उस निजी सत्य को हम बार बार अपने विचार में लाना आरम्भ कर दें। इस प्रकार किंचित वैराग्य किंचित ज्ञान एवं किंचित सत्य की झलक का अनुभव हो सकता है। यदि सौभाग्यवश हमें ऐसा मार्ग दर्शक मिल जाये जो उच्चतर स्थिति पर उपस्थित है एवं उसमें प्राणाहुति की शक्ति है तो हमारा काम सुलभ एवं सरल रीति से बन सकता है।

ऐसे मार्ग दर्शक की खोज भी एक प्रमुख प्रश्न है। कारण यह हैं कि मनुष्य जिन बातों को पसन्द करता हैं यदि वह बातें किसी दूसरे में दिखाई पड़ें तो वह उस दूसरे से स्नेह करने की इच्छा करता है। यदि वह गुरू और शिष्य के सम्बन्ध में विश्वास का उद्योग कर रहा है तो फिर उन दोनों में गुरू व शिष्य का नाता जुड़ जाता है। होते होते गुरू के सब गुण शिष्य में आजाते हैं। यदि यह बातें अच्छी हैं एवं गुरू की भी पूर्ण आध्यात्मिक उन्नति हैं तो शिष्य में भी यह गुण बढ़ने लगता है एवं धीरे धीरे गुरू व शिष्य दोनों उस पूर्णता में भली भाँति एक हो जाते हैं।

बात क्या है ? यह सब विचार का ही प्रभाव है। विचार किसी विषय से संबद्ध हो जाता हैं एवं उस विषय के रंग से रंग जाने लगता है। अब जितनी तेजी से विचार चिपका हुआ है उतनी ही तेजी से रंग का खिचाव होने लगता है। यदि सौभाग्यवश यह लगन ऐसे से लग जावे जहाँ कोई रंग ही नहीं है तो मनुष्य स्वयं बेरंग होता जाता है। अपने में जो भी मिलावट है वह बाहर फेंकने लगता है एवं वास्तविकता ही वास्तविकता प्रगट होनी आरम्भ होती है।

परन्तु मनुष्य साधारणतः बेरंगी पसन्द नहीं करता । सदैव नित नये रंगों की खोज में लगा रहता है । उसे सदैव होली खेलने की ही इच्छा रहती है । यह रंग-बिरंगी इच्छा केवल नेत्र तक ही सीमित नहीं है । कान, नाक, जिह्वा, त्वचा आदि हर एक के अपने अलग अलग प्रिय रंग हैं । गाना बजाना, विविध सुगन्धित द्रव्य, स्वादिष्ट मीठे-मीठे पकवान, मृदुमधुर, शीतोष्ण दायक पदार्थ इत्यादि उनके रंग हैं । तथा जहाँ कहीं यह विषय होते है वहाँ जाकर उन रंगों से रंगे जाने की इच्छाएँ मन में उत्पन्न होती रहती हैं । इस प्रकार मनुष्य एवं उनके मन इत्यादि इन रगों से लिप्त होते रहते हैं । जब इन रगों में गड़बड़ पड़ जाती है तो वह इनसे मुक्त होने का विचार करता है । परन्तु हमारे यहाँ मार्ग दर्शकों की कमी नहीं है । वह हमें एक प्रकार के रंग से मुक्ति पाने के उपाय सिखाने का आश्वासन देते हैं किन्तु दूसरे प्रकार के रंग में लीन कर देते हैं कुछ पथ भ्रष्ट शिक्षक भक्ति के नाम से गाने बजाने तथा नाचने कूदने का अभ्यास डाल देते हैं । पूजा एवं प्रसाद के नाम से सुगन्धित द्रव्य तथा स्वादिष्ट पकवान का चस्का लगा देते हैं । समाधि के नाम से चरस तथा भांग का सेवन सिखा देते हैं । अब आप ही इस बात का निर्णय कीजिये कि हमें ऐसे मार्ग दर्शकों से मुक्ति कैसे मिल सकती है । योग के विभिन्न प्रकारों की भी हमारे यहाँ कुछ कमी नहीं । कुण्डलिनी जगाने के कई साधन बताए जाते हैं परन्तु यह पता नहीं कि ऐसे सिखाने वालों में किसको इसका वास्तव में अनुभव है । दूसरी ओर महात्मा लोग हवन के नाम पर पीपों घी तथा मनों अनाज जलाते हैं । इससे केवल अपना उल्लू सीधा करने के अतिरिक्त दूसरी कौन बात हो सकती है यह किसी भी समझदार व्यक्ति की समझ में नहीं आती । कोई सिद्धियों के नाम से तमाशे दिखाता है तो दूसरा कोई ज्ञान के बहाने पवित्र पुस्तकों का पाठ करता है । परन्तु यह सब चित्र विचित्र रंगीन तमाशे जो हो रहे हैं इनमें कहीं भी यह बात नहीं मिलती की प्राणाहुति देकर सच्चे जिज्ञासु आत्म कल्याण कर सकें ।

ईश्वर ने मनुष्य को बुद्धि दी है । इससे काम लेकर जिज्ञासु इतना तो समझ ले कि लाल क्या है । तथा रंग क्या है । इसके पश्चात् वास्तविकता की खोज में निकले जो सब रंगीनी से अलग है । एवं ऐसे व्यक्ति की सहायता प्राप्त कर ले, जो वास्तव में बेरंग की दशा में लय हो चुका है एवं उसका अपना कोई रंग नहीं है । जब ऐसी दशा का पता अपने हृदय में लग जावे तो फिर उसको गुरू मान कर उसी के रंग में रंग जाने का प्रत्यन करे । ऐसे व्यक्ति से अत्यधिक प्रेम करें । एवं उसी के सहारे अपने सभी रंग खोकर सत् ही सत् में लय हो जावे ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

'वर्तमान भारतीय-दर्शन में साधना का अभाव'

(श्री जगदीश प्रसाद, आसाम)

आज के घोर संघर्षरत, नाना प्रकार की आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक एवं मनोविज्ञानिक जटिलताओं से उलझे मानव-जीवन के इस युग में अराष्ट्रीय तत्वों का विस्तार एव सांस्कृति मूल्यों का निरन्तर ह्रास होता देखकर कभी-कभी भारतीय संस्कृति के नव जागरण एवं पुनरुत्थान का विचार देशवासियों के हृदय में बादलों में बिजली की तरह चमक उठता है । पर यह विचार अपने अस्पष्ट एवं उलझनपन के कारण, कि आखिर नवजागरण से हम क्या से क्या समझते हैं—पुनरुत्थान के नाम पर हम क्या चाहतें हैं, अभी तक नेताओं के केवल भाषणों का ही सौन्दर्य बना हुआ है । लेकिन यह पुनरुत्थान का प्रश्न हमें स्वय स्पष्ट होने लगेगा जब गम्भीर प्रकृति के लोग, मानव-दर्शन एवं संस्कृति के नाम पर उठी हुयी असत्यता, व्यक्तिगत अनुभवहीनता के आधार पर दिये जाने वाले धार्मिक उपदेशों, पाखण्डों और आडम्बरों की तूफानी लहरों में कूदकर संस्कृति के नाम पर केवल 'मानव-जीवन की असलियत' का दामन पकड़ उसे बाहर खींच लेंगे । पदों के लालची मठाधीशों, पाखण्डी साधुओं और ख्याति के भूखे खोखले पुस्तकीय धुरन्धरों द्वारा बौद्धिक कसरतों से उलझायी गयी भारतीय-विचारधारा को आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृति के संदर्भ में 'व्यवहारिक' या 'अव्यवहारिक' सिद्ध करने के पूर्व इसे किसी साधना के स्तर पर सुलझा लेना नितान्त आवश्यक हो जाता है । अतः राजनीति की संकीर्ण वृत में पड़कर बालू से तेल निकलने की आशा में समय की बरबादी करने वाले योग्य विचारकों का ध्यान मानव-जीवन के दर्शन की ओर मुड़ना चाहिए ।

किन्तु, भारतीय दर्शन का आधार तो उसका व्यवहारिक साधना के रूप में रहा है । समय के प्रवाह में जब-जब यह पक्ष विलुप्त होता गया थोथी बौद्धिक कसरतों के फलस्वरूप उलझन बढ़ती गयी पाखण्डियों के स्वार्थों से कुरीतियों का प्राबल्य होता गया जिससे जन-जीवन त्राहि-त्राहि कर उठता रहा है और फलस्वरूप अवतार के रूप में किसी न किसी महामानव का जन्म होता रहा और साथ ही साथ जनता को साधना के रूप में एक कल्याण का मार्ग मिलता रहा है । पर भारतियों का यह दुर्भाग्य रहा है कि वे साधना के स्तर पर 'वास्तविकता' को तो समझने का प्रयत्न कम, महात्माओं के वाह्य रूप और सिद्धान्तों में अपने आपको भुलाने और बहकाने की प्रवृतियाँ अधिक रखते आये हैं । भक्त तुलसी और सूर के दृश्य हृदय तन्त्री से झकृत होने वाली गीत लहरियों में झूम उठने वाले भारतवासी क्या राम और कृष्ण के उस आदर्श-स्वरूप का

दर्शन कर सके थे जैसा कि इन भक्तों ने किया था ? यदि ऐसा होता तो रीति-कालीन युग में आकर राधा-कृष्ण के पवित्र-प्रेम के नाम पर अश्लील कविताओं में क्या वह ठगी जा सकती थी ? पाखण्डियों के हाथ में पड़कर अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों के इतने घने बन्धन में क्या वह बाँधी जा सकती थी ? इन्हीं कुरीतियों के जाल में छटपटाती हुयी जनता जब भारतेन्दु युग में आयी तो अंग्रेजों की नयी सभ्यता के समक्ष अपनी संस्कृति पर घृणा का वमन करने को विवश हुयी। फलस्वरूप हमारी सस्कृति के पुस्तकीय कीड़े रक्षकों के रूप में खड़े हो गये जिन्होंने असलियत पर ध्यान दिये बिना ही जनता को 'प्रगति-वादी' की रेल में बैठाकर हवा में सुधारवादी झण्डे लहरा दिए। साधना के अभाव में भारतीय जनता किस प्रकार वास्तविकता का दामन छोड़ अँधेरे में भागी चली आ रही है। सोचने का विषय है जिस कृष्ण ने अर्जुन को एक बार गीता सुनायी, अर्जुन अपने आत्मा पर पड़े संकीर्ण परतों को चीरता हुआ जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त कर लिया, पर उसी गीता को मानव द्वारा हजारों बार पढ़े पढ़ाये जाने पर कोई भी अर्जुन न बना—बल्कि पाप प्रवृत्तियों को ही बढ़ावा मिला। इस रहस्य को समझे बिना ही गीता पर अन्धाधुन्ध उपदेश देते रहने के पीछे अज्ञानता—भावुकता और स्वार्थों का तत्व नहीं तो और क्या है ? महात्मा गांधी ने आत्म-विकास के जिस स्तर पर सत्य-अहिंसा और शान्ति के महत्व को समझा था, हमने अपनी आत्मा का विकास उस स्तर तक किये बिना ही उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर केवल भावुकता के आवेश में उनके सिद्धान्तों का ढोल पीटा है—अपनी कमजोरियों और विवशताओं के साथ धोका किया है। उस समय कितने ही लोग गान्धी टोपी लगाकर 'ब्रह्मचारी' बन गये थे पर आज उनके घर लड़कों-बच्चों की कतार खड़ी है। शर्म से जो ऐसा न कर सके तो नैतिकता की ओट में व्यभिचारी प्रवृतियों को अन्दर ही अन्दर पनपने दिया। और आज की यह असभ्यता 'अनैतिकता और भ्रष्टाचार कुछ नहीं इसी मलिन मन में पककर फूटे हुए फोड़े की मवाद है जो चू रही है—दुर्गन्धि है जो उड़ रही है। यदि सस्कृति पुनरुत्थान का तात्पर्य इस मवाद को पोंछ कर फिर से नैतिकता के ढोल पिटवाना है तो जनता आज यह ढोल भी नहीं पीट सकेगी।

किन्तु इस लेख का अभिप्राय तो आज की बढ़ती हुयी अराष्ट्रीय शक्तियों के फलस्वरूप उत्पन्न हर प्रकार की उलझनों में, मानव-कल्याण का मार्ग प्रशस्त करने के निमित्त, योग्य साधना के स्तर पर आत्मचिन्तन को प्रोत्साहन दिलवाने के लिये, मानवतावादी विचारकों के दायित्व की याद दिलाना मात्र है। इसी प्रसंग में यह सुझाव किसी भी दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण

हुई है। इसे उनसे छूटना है। सैकिन चूँकि इस इनकी तरफ से बेखबर रहते हैं इसलिए बचाव उन बेड़ियों को कम करने के इस ओर बढ़ाते चले जाते हैं। फलस्वरूप इस उन संस्कारों की जेलों के लिए जरूरत बराबर पड़ती ही जाती है। इन कर्मों का एक फल होता है और उसका जो असर मनपर होता है वही संस्कार बनता है। हमारे कर्म तो कम ही नहीं सकते। हाँ उनका मन पर असर—या उनकी संस्कार पड़ना असंख्य कम ही सकता है। यह तभी हो सकता है जब हमारे मन का सगाव किसी वस्तु चेतन की ओर ही जाए। इस सफर में हजार चीजें देखते हैं, तमाम लोगों से मिलते हैं सैकिन उसमें से किसका याद रहता है। बस यही है कि हमारी नजर तो वहीं रहती है जहाँ हमें पहुँचना है।

अब एक तरफ पिछले संस्कारों से जकड़ी छूटना और दूसरी तरफ नए संस्कारों को कम से कम बनने देना—इसी में हमारी बेड़ियों के खुलने की सम्भावना है जिससे हम उस वक्त पर पहुँच सकें जहाँ हमें जाना है। जिसने में ध्यान के द्वारा जहाँ एक ओर संस्कारों को क्षीण करने की योग्यता है वहीं दूसरी ओर प्राणाहुति की प्रक्रिया द्वारा हमारे मन में ईश्वरीय भावना को इतनी सबल बना दिया जाता है कि नए संस्कार बहुत ही कम असर डाल सकें। अब हमारा मन आसान होने लगता और धीरे-धीरे ईश्वर की ओर बढ़ चलेगा।

अन्त में एक बात फिर कह दूं। एक गृहस्थ की इन बातों की गम्भीरता से विचार करने की जरूरत है क्योंकि वह एक परिवार का केन्द्र है। उसके आचार विचारों से उसके परिवार के छोटे छोटे बच्चों के आचार विचार बनेंगे। इस बच्चों का जीवन जैसा चाहते हैं उसके अनुसार अभी से इस वह वातावरण, वही जीवन अपनायें। अन्यथा उनका जीवन यदि ठीक नहीं बना तो इसी होगी होगी। यमें अपने व्यक्तिगत रूप में बढ़ने संसार की सम्पन्नता आया और यह अपने देश का गौरव है कि उसमें समय समय के अनुसार ऐसे व्यक्ति हुये जिन्होंने समाज और धर्म की एक साथ जीवित रखा। आज संसार की एक नवीन धर्म की आवश्यकता है जिसे पूर्व और पश्चिमी देश एक साथ मान सकें। संसार में बढ़ती हुई नैतिक, सामाजिक पारिवारिक समस्याओं में एक स्वस्थ धार्मिक दृष्टिकोण की बहुत आवश्यकता है। अकेले स्वयं अपनी आवश्यकता के अनुसार नए महा पुरुषों को उत्पन्न करती रहती है। अतः आइए और नए समाज के लिए, श्री रामचन्द्र मिशन का सन्देश सुनिए और उसके अनुसार एक नए पथ के बनिए महान सुख धार !!

X X X

गृहस्थ जीवन और मिशन

—सुरेशचन्द्र एम० ए०

एक आदमी ने दूसरे से यूं ही पूछा--'क्यों भाई, घर में सब अमन चैन है?'

दूसरे ने कुछ नाराज होकर कहा—'ऐसा गलत सवाल मुझसे क्यों करते हो ? मुझे क्या साधू सन्यासी समझ रक्खा है । मैं गृहस्थ हूं ।'

यानी गृहस्थी और अमन चैन कम ही साथ चलते हैं । तमाम जुम्मे-दारियां हैं । केवल खाना,कपड़ा और मकान ही नहीं, बच्चों का स्वास्थ्य, उनके लिए उचित से उचित शिक्षा-दीक्षा और साथ ही कुटुम्ब, समाज और देश के प्रति अनेक कर्तव्य—यह सब एक गृहस्थ के कन्धों पर रहता है । इन जिम्मेदारियों के साथ अनेक उलझने जुड़ी रहती हैं और नतीजा यह होता है कि जो आदमी इन कर्तव्यों को नहीं पूरा कर पाता है उसके लिए गृहस्थ जीवन एक अभिशाप बन जाता है और जो इनको सबको निभा ले जाता है उसका जीवन सुखी हो जाता है ।

गृहस्थ जीवन भोग विलास का नहीं बल्कि शक्ति की परीक्षा का काल है । भोग का तो अन्त नहीं लेकिन भोग का आनन्द उठाने की शक्ति-धीरे धीरे कम होती जाती है और हमारे अन्दर एक विचित्र बेचैनी और आकुलता भरने लगती है । हम अपने को वृद्ध होता हुआ महसूस करते हैं और तभी हम शंकराचार्य के साथ कह उठते हैं—'भोग तो क्षीण नहीं हुए, हम ही क्षीण हो गए—भोगा न भुक्ता, वयमेव भुक्ताः ।' हमको लगता है कि संसार में सारा सुख, यौवन और आनन्द भरा हुआ है लेकिन हम खुद इस मयखाने के काबिल नहीं रहे । ऐसे लोगों में एक हार, पछतावे और उदासी की भावना झलकने लगती है ।

ज्यों-ज्यों शाखाओं और पत्तों का बोझ बढ़ता है, जड़ें उतनी ही अन्दर धँसती हैं तना उतना ही मोटा होता जाता है । प्रकृति की यह स्वाभाविक क्रिया है । व्यक्तियों को स्वय इसके लिए तैयार होना पड़ता है इस लिए गृहस्थ जीवन को शक्ति प्राप्ति का समय कहना उचित होगा । भोग या आनन्द तो उसी प्रकार गौण हैं जिस प्रकार खाने में स्वाद । खाने का पहला उद्देश्य जीवन शक्ति पाना है और दूसरा आनन्द । यही गृहस्थ जीवन में भी समझना चाहिए । इसीलिए गृहस्थ जीवन में हम परिवार, समाज और देश का भविष्य पालते पोसते हैं । उसके लिए तमाम तकलीफें उठाते हैं ।

लेकिन क्या व्यक्ति सदैव दूसरे के लिए ही सब कुछ करता रहता है ।

एक बार याज्ञवल्क्य से भी यही प्रश्न पूछा गया था । उन्होंने कहा–'पत्नी पति को, पति पत्नी को सब एक दूसरे को अपने लिए ही प्रेम करते हैं । यह स्वार्थ नहीं, अहम् का शुद्धतम परिमार्जित रूप है । दूसरों के लिए जान देने वाला अपनी आत्मा के सन्तोष के साथ मरता है । इसलिए जब लोग किसी बड़ी चीज के लिए छोटी चीजों के त्याग की गिनती करते हुए आत्मा के पास पहुंचते है तो कह उठते हैं—नहीं, नहीं, आत्मा के लिए सब कुछ छोड़ देना चाहिए—'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ।'

गृहस्थ जीवन में हम सारी जिम्मेदारियां लेते हैं इसलिए नहीं कि हम दूसरों का उपकार करते हैं । पत्नी का भरण-पोषण, बच्चों का लालन-पालन, समाज और देश के प्रति कर्तव्यनिष्ठा सब अपनी संतुष्टि के लिए हैं । यानी इन सबके बीच हमारी आत्मा की उन्नति होना या दसरे शब्दों में ईश्वर की या जो परमतत्व हम कहें उसकी प्राप्ति होना जरूरी है । इसी से हम यह अनुभव करें कि हम अपने कर्तव्यों को निभा रहे हैं । अपने कर्तव्यों के बीच तमाम कठिनाइयाँ आर्थिक, सामाजिक आएंगी । गुस्सा, बेइमानी, लालच, आदि दुर्भावनाओं का हमला होगा । लेकिन हमें सब झेलते हुए आगे बढ़ना है । यह तपस्या नही तो और क्या है । सब पूछो तो गृहस्थ जीवन एक बहुत बड़ी तपस्या है ।

लेकिन तपस्या के लिए वैराग्य जरूरी है । जब तक वैराग्य नहीं होगा तब तक हम ईश्वर की ओर बढ़ ही नहीं सकते । मगर यह वैराग्य चिमटा कमण्डल वाला वैराग्य नहीं । यह वह वैराग्य नहीं जिसमें हम अपने बच्चों को, पत्नी, माँ-बाप को बिना सहारे के छोड़कर जंगल चले जाएं । Reality At Dawn में पूज्य लेखक ने लिखा है कि जब हमारी सारी भावनाएं ईश्वर की ओर लग जाएंगी' तो दूसरी चीजों से हमारा मन अपने आप हट जाएगा । उनको हम सिर्फ कर्तव्य के नाते करते जाएंगे । यही असली वैराग्य है । इसमें किसी गलती की सम्भावना नहीं क्योंकि हमारे अन्दर जब पवित्र ईश्वरीय भावना का वास हो जाएगा तो सारे कर्तव्य अपने आप अच्छे से अच्छे ढंग से निभते चले जाएगे और उनका जो भी परिणाम होगा उसे हम ईश्वर का दिया हुआ वरदान मानकर खुशी खुशी सह लेंगे ।

तपस्या के लिए वैराग्य और वैराग्य के लिए लक्ष्य का होना परम आवश्यक है । गृहस्थ जीवन सांसारिक आनन्द से अलग नहीं किन्तु वह लक्ष्य नहीं हो सकते । लक्ष्य तो अपने को या ईश्वर पाना—जो चाहें कह लें । जब हमने इतना मान लिया तो आगे बढ़ना रह गया ।

हमारे पैरों में पिछले कार्यों के परिणाम या संस्कारों की बेड़ियां पड़ी

TRAVEL LIGHT

Sri Ram Chandra ji (President)

'Travel light' is the general advice of the Railway department to all train travellers, with a view to offer greatest convenience to fellow passangers. The same may aptly apply in the case of travellers on the path of realisation. We know we are proceeding on along the path over burdened with the weight of our belongings, existing in the from of Sanskaras etc Now in order to have a convenient journey we need be relieved of it. It can be done in two ways Firstly, as in the case of train travelling we book the heavy luggage with the guard of the train so also in this journey we may give over the heavy luggage to the charge of the Master and be relieved of its weight. That, in other words, conveys the idea of surrender. When we have surrenderd all our belongings to the Master, we are free from the encumbering weight thereof. The other method may be to go on setting them aside bit by bit by undergoing their Bhoga. But that would be a long and tedious process and very difficult also Any how, we have after all, to become lighter and the lightest. I want you all to take this point into consideration and to act accordingly. Time never comes again. We must therefore utilise it to our best advantage as a true follower of the Great Master. I have nothing to offer except a little support together with my good wishes. I do not mean to induce any one to give up his worldly

X X X

देवी "सहज मार्ग" है पाई

राज येगा मार्ग पर चलना मुश्किल पड़ न दिखाई ।
करिके सरल तोड़े "बाबा जी" मारग सहज बताई ।
योगिक क्रिया प्राणाहुति है "सहज मार्ग" में पाई ।
मल विक्षेप आवरण की यह इसमें होति सफाई ॥
ब्रह्म तत्व विद्या जब दें के , सहज मार्ग" में पाई ।
इन्हा मन अन्तर शोधित दशा है कोई ॥
नित मतयुक्त मतभारत दें छिपी वस्तु छिनि जाई ।
ब्रह्म के आगे पार ब्रह्म तक "सहज मार्ग" दें जाई ॥
किरपा मतपुरु "बाबू जी" की "डेरेपा" पड़ति दिखताई ।
"मारग सहज" फिलिहै जग में एक दिन देखा आई ॥

—हरिसत्य श्रीवास्तव
शाहाबादी

belongings and bid farewell to his domastic living but only to attend to every thing in the sense of duty entrusted to him by the Divine Master. That is infact the real life and the only solution of all the difficulties, whether spiritual or temporal.

For that I expect every one to put in his best efforts. I may also assure you that the attainments you make during the period of my physical existence will be of value to you after I am gone. But if you neglect it now, dwelling in the idea that you shall have it by developing attachment with me even after I am gone from this material world, it may then be a hard nut to crack. A moth burns itself on a live flame but rarely there may be one that can burn itself on a dead flame which is almost apparent impossibility. There may however be exceptions to it but rare, very rare indeed. The only solution, therefore can be, either to get up to a level where burning on a dead flame may become possible and practicable, or to attain that highest state where the question of burning may not rise at all. But this depends upon God's grace and one's own bold efforts.

My heart is full with intense love for all my fellow beings. I never feel satisfied with my services to them. How eagerly I wish every one to come up to my level of approach, because so for it is within my power to help them upto it. What may be after I am gone from this world, I can say nothing precisely. The bountiful riches bestowed to me by my Divine Master, can never have been possessed even by greatest of monarchs. Nothing of the world can

be a match to it. I have no desire to take it along with me when I go but to transfer it to some body just as my Master had done. But so far I find none upto the mark, nor anyone seems to be endeavouring to develop that capacity in him. But why I myself do not creat that capacity in them, may be surprising to some of them. The only answer I can possibly have for it, is that none likes to be so. Now if I thrust it upon any one beyond his deserve that would be against the very principle Besides he shall not be then cognizant of it. For this purpose a thorough wandering in the region, one is passing through, is essential, with out which one would never have the full realisation of all the blissful states included in it. In that case he shall never be able to guide others on the path. For this reason higher points are never unfolded all at once. These are some of my difficulties otherwise nothing would perhaps be easier to me than this process. As for those of my associates who happen to breathe their last I feel it my duty to pull them up to the level at which their return to this world gets barred. The instant ending of the sanskaras is however against the law of Nature. Besides, I have neither health nor physical strength to undergo them myself for their sake, just as my worthy Master had often done in similar cases.

❀ ❀ ❀

OM

REORIENTATION OF RELIGIOUSNESS

—Shri Raghavendra Rao
B Sc., B.E., M.I.S.E.

In our country, especially in its Southern parts, one comes across many people who profess to be very religious. But an intelligent observer can find a few distinct classes among such of them. Firstly, there are those who consider their own religion to be the trust without knowing what it really is, and feel themselves an inch taller than the others. Their religiosity just ends with this. Occasionally they join big religious congregations and congratulate themselves for having done a favour to their Gods or Goddesses by occasionally worshipping them. They do not hesitate to proclaim that they are the real custodians of their ancient religions, cultures and Gods. The moment they step out of their temples they leave their Gods behind and look out for the good things of the world which are the only things worth craving for.

There are other classes who are very proud of their castes and prouder of tneir own particular subcaste. Their hatred of other sects is more intense and severe than their love for their own sect. Their internal condition is such that any person who does not belong to their own sect is their deadliest enemy.

Their god also belongs to their particular sect and he is not allowed to do any favour to others.

There are the so called intelligent classes who have studied their holy books and who proclalm that all of their mythical books are very scientific; and do not hesitate to quote Darwin or Einstien in support of their scriptures. The whole theory of evolution regarding man being born out of monkeys and mosquitoes, according to them, is contained in and supported by their holy books. Eevn the Atomic bomb and the world being relativistic (whatever it may mean) can be found in their expositions.

One comes across the followers of the so called saints, mahatmas and spiritual societies also. Such people are charmed by their gurus or masters and feel that they (the gurus) possess extraordinary powers. But at the same time they are so firmly and even rudely bound that they shudder at the slightest suggestion of free thinking. No doubt, they believe that their gurus may ultimately show the way for liberation, but most probably their idea of liberation is the loss of freedom and even free thinking. The only use of the miraculous powers of the masters is probably to increase the number of followers and to tighten their grip upon the existing ones.

And there are the crudest believers who believe that before committing any act (irrespective of the moral and social laws of the land) they should get the sanction from their gods or godesses by promising them to a part of their booty as sacred offerings. So they even sin very religiously.

Selfishness, bigotry and fanaticism coupled with half-knowledge and wrong guides have spoiled the religious outlook of the people of our great coutry, A thorough overhaul of this crude mentality and a revolutionary approach towards the essence of religion are the urgent needs of the day. How to proceed is the problem. We suggest a few methods which may catch the fancy of those intersted in this problem.

Of course the problem has not been stated in its entirity in this short essay; nevertheless one can feel the existence of one and proceed to investigate its subtler causes and its remedies. If we take a broader view we can even appreciate that this problem is not confined to the Southern parts of our country alone but to the entire world as well. It is no less a problem for an individual than for the whole of mankind. But the methods for its solution must necessarily start with the individual only. To ask the other fellow to become good is as good or as bad as to allow oneself to remain bad.

First of all let us examine some basic facts regarding the origin of religion and its influence upon the minds of men. Religion originally springs fourth from the purified mind of some great personality who is pure at heart and who has had the experience of the Light of the ultimate cause of this Delightfull Existence, in the form of his sayings and teachings. Its source is superconsciousness, hence it affects the deeper layers of man's consciousness and leaves its impressions thereon. The impure mind is quickly hypnotised by the charming reflections of the activities going on its deeper layers. If the receiving

mind is not pure, the power gained by religion will strengthen the impurities and consequently the religon itself gets degenerated when it is transmitted through such impure minds. Finally, the outer shell remains in view and the inner spirit is completely lost. Then religion becomes a bundle of prejudices with a shell of complex rites and rituals. Religion, instead of being a source of peace of mind and natural brotherhood, becomes a source of strifes and animosities. Universal love and mutual sympathy give place to hatred and jealousy. Instead of catering to the noble internal aspirations of the soul it begins to cater to the cravings of the sensuous gratifications; and at the other end the very same degenerated religion caters to the inner selfish desires of self-agrandizement, name and fame by resorting to bodily and mental tortures and repressions.

A very useful method would be to reorient man's thinking itself To do this on a world scale would appear to be a gr at task. However individuals can make efforts, in this direction by thinking that all men and women of this world are their own brothers and sisters and that they are being attracted towards their Original Source. But the best method would be for every individual to purify his own heart and bring himself up to that level from which he can transmit to others. Prayer, the help of a worthy and capable guide and constant alertness to attain the goal shall be very effective.

Of course, there are purely spiritual methods also, but I do not want to mention them; because if they are taken up by the impure hearts and unworthy

persons they are likely to be misused and abused. Those interested may contact some worthy guide in this matter, who can instruct on the right lines and who has got the power of yogic transmission at his command to help the aspirants on the path of spirituality. A real guide purifies and illumines the heart. If the guide is really capable he will transmit the power to proceed onwords. One feels calmness and peace of mind and also feels that his heart has become light in the presence of such ,a worthy guide. Such a one will be quite unassuming, entirely selfless and devoid of all pomp and show. His methods also will be similarly easy, simple and just for the purpose.

In short, the methods must be such that they should purify and lighten the heart, illumine and enlighten the mind and elevate and liberate the soul. Only then can true religion spring forth and save mankind.

"MY VIEW OF THE MASTER"

—Shri B. D. Mahajan

It has always remained tacit with me, perhaps because conditions lose their natural charm on being brought to a conscious level. This is only a superficial view. In fact they become one's own on being expressed. They are for a march onwards and a study having no end or final examination. Masters come and go after doing their part of duty in the performance of Nature's work, but the divine Master gives guidance and directions at all the times. My Master pulsates in every beat of my heart and keeps on pouring into it to fill in any lacuna or cavity. He is the OM (which reverberates in unison with the heart in the hinder part of the mind as epithet of the prayer Oh ! Master !). He is the All-powerful. He is the Ram and he is the Krishna.

His physical form is only a carriage for the divine force for the cleansing of the smeared souls and the atmosphere around. With his *apar-kripa* one perceives him completely within one's body—hands inside the hand, face inside the face and legs inside the leg. When he adjusts his vital points effluent with endless energy with those of his devotee, the devotee feels Him. He goads him up and takes him along with Him in the vast regions of the spirits. When he (in a transmitted form) girdles around the

heart he creates a crater inbetween - throwing the portion below the heart down below and the portion above the heart high up evolving and evolving and creating a feeling of pervasiveneess and oneness with Him. He fills through the beads of hearts of all those sitting in meditation to Him and enables His *bhaktas* also to do so.

He is not only at one place It is the unfortunate who regard him as confined within the body. He takes us to one place and simultaneously to another, and with His, physical form to a third - all for the spiritual uplift of the devotees. His actions are multiphased. He, in us; is the doer; the done on and the observer. He is simultaneously present with all his devotees. His *Vishva-rupa* hangs all over and he is there where His *bhaktsas* gather. His *manvarupa* appears like a skilled craft man busy in adjusting the inner systems of His *bhaktas*. He bodily removes the obstacles and the complexities from the path of the devotees' journey upwards. He may appear sitting in the *Sahastrdal* paving path for the downpour of the Divine Grace and pour himself down the *chitta* in the form of a forceful current. The *abhyasi*'s mind then becomes the Master's mind and directs the current to the seekers around. God Himself has no mind. Unless we ourselves think all in fitness for a change and pray accordingly, we cannot have them answered in our meditation.

Those who have surrendered to the Divine Master need fear no more. He - in them - fights with the intruders and cuts dead those who come in the way of their progress. Those who have linked

their stars with Him cannot be linked with by the persons of ordinary calibre easily. They find their way through and fear any body no more. Instead success comes to them and nature plays in tune with them. She offers them a permeation through her vast oceans, flowing streams, greeneries, all air and all universe, bestowing upon them a boon of broad-heartedness. They automatically get diverted towards the uplift of humanity. Of course they have to undergo the rakings of self-thinking and remain most of the time in isolation for making good the resultant frustration, but they are the few gifted ones having a tape of second thinking always working on simultaneously with the external thinking. Their sphere of work expands every day. The pious *Sanskaras* become strong in them. Then they channelise the dormant forces in the ignorant indulgents and give them lift by force of the vacuum within themselves. They become 'Prayer Embodiments'. They cannot rest even a while.

By continuous pourings into the system of the *abhyasis* the Master foams out the impurities relieving them of all heavinesses or complescities and replenishes the lackings or wantings. He puffs out the enemy *sanskaras*, of his devotees and gets them power over their weak *Sanskaras*. A pass-by of the Master or a reminiscence of His presence in the Surroundings of the devotee relieves the devotee of all his cares and worries giving him once again a lightness of mind, and the time and opportunity to think afresh for the solution of the problem of life.

He enters into our astral form and leads us on to connect us to the stars and space above creating a magnetism and a gut of pervasiveness in the body. He raises us to the highest-making the body to perceive to be growing taller and taller in the space forming himself the base and our head the universal mind. He unrolls himself down into the system in the form of a muslin cloth for cleaning, which goes on unleashing in the heart region vertically downwards and then horizontally around, encircling all the hearts sitting besides, which then are transported unto a heaven of super-consciousness in the platform of a vacuous circle. On a rapid journey in the heart region he leads us in the form of a living creature, generally a cat, which goes on traversing the region endlessly around or down below. When we are amidst worries or in sincere prayer, the Master appers sittnig in the *Sahastrdal*. He, then, evolves us higher and higher connecting us to the Ultimate through His form. He may appear simultaneously in the field of the heart region and in the *Sahastrdal* above and in His Physical Form in front of us. He takes charge of his *bhaktas* during their sleep and wakes them up with a word of instruction in their conscience for being followed and digested during the course of the day. He enlightens the mind of the *abhyasi* by raising it to higher levels of consciousness and fanning off its wearinesses and congestions. He develops the faculties of the mind by becoming Himself the means of concentration and thus enabling the *abhyasi* to have a detached and an overall view towards the real state of things. He feeds the *abhyasi* with spiritual food like a considerate mother so that there is no indi-

gestion or distastefulness and still he becomes a spiritual giant. He gives the *abhysi* force by professing himself just a fig before him. He awakens the dormant souls by regulating their worldly life with the spiritual and by filling tremendous force into their hearts. He may give initiation to his seekers in their sleep by hovering around their hearts in the form of a black charming butterfly and appearing himself as a Divine Figure. He gives initiation by appearing himself in a towering figure with his feet at the heart of the seekers and toeing it up heart through his own psychic power. He cleanses their path from heart to the *Sahstrdal* by repeatedly passing through them in a circular form. He cleanses the heart by yards of dhoti cloth in the form of a movnig curtain. He may put the *abhyasi* into an oblivious state by seating himself in the from of a chair on the heart.

He hatches the spiritually--unborn with the thought power like a mother tortoise ane calls them to his side to give them spiritual sittings. soulls of different functionaries go to him to receive instructions for carrying into effect the plans of Nature's work. He presides over the spiritual sittings of the various saints at work. Aspirant seekers are always under his shelter. They may be farther off only physically. In their meditation sittings, although in their houses-alone or with other brethren *satsanghis* –, they sit besides his feet in the very room where his physical form sits. Distance matters little in the region of heart. The Master in his divinity enjoys swimmings in the ocean of nothingness created by the circle of hearts and

makes his beloveds also to do so. The presence of the Master may be evoked by a rapid repetition of the prayer or murmuring a song dedicated to his memory. To the examinees he himself is the examinee if they treat their enterprise as an oblation to him for a greater cause–cause of humanity. In their studies, too, he checks their downward tendencies, brings to a point their diffusive powers; and opens the windows of their mind making them broad & universal-minded.

He is one with the One and makes his children one with Him. He fondles them and treads them along the path. He is all energy and all Nature. After becoming one with Him and losing all what he calls as his own to him and absorbing all he can get from Him, a watchful practicant can perceive the transmission going on at all the times. He can feel a current flowing from one soul to another and guiding the thought while he is in action or in meditation. The vitality of the food can be felt flowing into the body in the from of atoms, the medicines themselves appear to be pouring into the throat, and the energy of the sun seems to be already there in the system, without their being physically taken. The Master inherits no diseases or physical ailments. In suffering these, too, he teaches us how to pray. He may at a wish transform any body into a person needed by the time. Gods and goddesses who have failed so far to do their respective duties are nothing before him, various functionaries carry out his orders and the *avtaras* come through him. He who has felt Him khows Him. Others may treat him just like an ordinary person. The moment one has surrendered to his outward appearances; one comes to feel his inner effulgence. To a lucky few he is a supreme person at all the times. He holds our mouths tight and makes us speak and see only that much which we are to do and digest in this world of banalities and superfluities His wonderful balance between the worldly and the spiritual is a thing to be followed and attained. He is the person to whom we can pray and get done the things, which we sincerely feel for the uplift of degenerated humanity. May He bring us upto that stage. May He make us worthy of His associations here and hereafter.

■ ● ■

Realisation of God is a state of being.

It is eternal, unchanging and infinite.

It is the regaining of the Original Condition.

Man has passed through innumerable stages in his descent to his present condition from his Original Godly State.

He has to traverse back the entire distance.

The desire for gratification has been the main cause for his descent.

He should check his desire at every stage during his ascent.

The higher stages are immensely powerful, aud extremely charming and very enticing.

Entanglement of thought in any lower power bars the way to higher ascent.

The final stage is utterly independent Existence and beyond all existences.

GROANING HUMANITY

—Sri Bishun Sahai Srivastava

The humanity, today is grossly encircled within the unbreakable fold of materialism which has pulled it down to the lowest level of degradation. The obscure labyrinth has enshrouded it in such an awful way that the very sense of discremination seems to have been paralysed altogether. Self interest alone, even at the cost of due privileges of others, is predominent in all phases of life.

Such being the case, the ways and means adopted for lessening the miseries of life are too not free from materialistic effects. The entire perception nas changed. The very religion has turned into a concised form of materialism, casting away its subtleglare. The conception of universal brotherhood, the essential prelude for the real pursuit, has been lost sight of and prejudice, jealousy & hatred alone remain in its place.

The Privileged teachers of the so called divine knowledge roaming about at large teaching and preaching to the masses, are basically found to be more after serving their own purpose through religious rites and ceremonies imposed upou them. The religious sentiment of people is thus being exploited, day in and day out, to the utmost possible extent. Their colourful exposition of the scriptural views, their eloquent

discourses on Gita and Ramayan, their melodious chanting of the phrases and verses in praise of dieties are charmingly entertaining to masses. They are therefore attracted more towards it than towards the dreary void of the Absolute Reality at the root. It is not only the case with the ignorant masses alone, but also with most of those known to be possessed with better understanding and improved intelligence. The result is that for all their life their frail canoes remain floating on the surface without ever catching even the slightest glimmer of the bright gem lying at the bottom. They remain ever entangled in dogmatic complexities and superstitions.

Who is there then to extricate them from the mire ? It is undoubtedly the Guru—a real guru, who has himself travelled the entire distance upto the farthest limit, commonly known as 'Perfection'. The word guru comprises of two syllables, 'Gu' (गु) and 'Ru' (रु). 'Gu' means darkness and it refers to that which the man at its present level is usually enshrouded in, while 'Ru' means the removing of The two syllables put together refer to the man who dispells off darkness, bringing out the real self into enlightenment. Such being the real significance of the word it is but essential to trace out in him the real merit. Physical appearance, display of knowledge or demonstration of miracles is in no way the critarian for the real worth of a guru. Everyone has therefore to be at his guards in this respect if he really means to aspire for true Reality.

The popular view imported into the minds of people that family living, involving all its duties and

responsibilities is a serious bar in the way of higher attainments, is absurd and unnatural, and against all social and moral laws. My master's view on the point lays down that the two instincts, the human and the divine, are running parallel to each other in the entire being of man. None of them can ever be totally extinct. The over-predominence of the human over the divine is the real evil which is to be mended and set right. When divinity assumes predominence, with humanity having got merged into it, the purpose is served in full. That is all one has to endeavour for, and for which the physical form of vaeragya, practised and followed by those self-styled renouncers in the safforn clothes, has no meaning at all.

What is then to be done for the purpose is to dispel off the clouds of darkness which have settled down in us by the effect of our sanskaras. That is in fact the only job for the master too, and for which the proper man of highest calibre, worthy of the job, is essential and indispensable. Our unintermittent thoughts and actions, causing impressions thereof, go on adding more and more to the already piled up store of sanskaras, creating innumerable enfoldments all through. We have to relieve ourself of these enfoldments. For that we have to take up a double course. The first to put an immediate stop to further formation of sanskaras, and secondly to exhaust the previously piled up store through the process of Bhoga. This is in a word the sum total of the entire sadhana taken up under the system of Sahaj Marga.

Man is the living temple of God, who has

placed into it, His own Self in a most codensed form. The soul being nothing more than an atom of the Almighty, has made it mighty enough to carve out its own destiny. This atom of the Divine gold with all its values and glammer, has unfortunately been dislinked with the original Source because of innumerable coverings and enfoldments and consequently remains deprived of the true Light thereof. It is therefore necessary for us to have those covering removed to become cognizant of the our close connection with the Origin. The moment we succeed in affecting it, the realization is at hand. Spirituality is the only path for that, which has been made so easily accessible and practicable through this scientific system of Sahaj Marga.

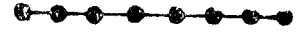

Discipline is absolutely necessary for any progress.

It must be self-imposed and without any self-aggrandizement.

Willing co-operation with the Master brings in the required state of discipline very easily and naturally.

Love for Him naturally disciplines the heart.

The more intense the love, the quicker the result.

Flattery perverts love.

Real love aims at complete annihilation of self for the sake of Beloved.

PRANAHUTI

(A scientific process)

(Sri Ishwar Sahai)

The present one being the age of reason, nothing can be convincing to the people in general, unless it stands on a scientific base. But what science in the modern sense of the word means, is only that branch of science which relates directly wit hmatter in the solid form. As such its approach upto things beyond the sphere of matter is quite out of question. As a matter of fact the sphere of science does not end with it. Besides this particular type of science there are other sciences too which relate with other forms of finer and subtler existence. Thus apart from this material science there is the spiritual science which deals exclusively with subtler problems concerning God and soul, which are far away beyond the range of matter. It is thus obvious that such subtler problems related with the finer forms of existence are far beyo-nd the scope of the modern science, and for which there is the spiritual science which rests upon inner perception and experience and direct feeling and realization.

Often people come up with a demand for a practical proof of pranahuti (the yogic process of Trans-mission), on the grounds that, as they say, they do not feel any thing inspite of their efforts for years. On my part 1 do not feel the least surprised at it, since 1 believe that it must be the natural result in all such cases. They seem to have started with an actual pre-

sumption of some kind of force or power to enter into them so as to stir up or stimulate their physical consciousness and make them witness some striking vision of an imposing condition. But unfortunately for them, there is nothing in it of the kind. In its strict sense it has no relation with force or power to stir up activity, motion or vibertaion by its contact with the body. To put it in my master's words, it is rather something like a 'Force-less Force' which at the material level mignt have no meaning at all. But there it is still, for sure and, the above expression too is nearest to appropriate-ness.

Of course the proof is there, for sure, and it appears in the form of finer experiences of the indi-vidual himself, for which sensitiveness and a clear perception is necessary. It is nothing like a comm-on laboratory experiment of a certain thing in respect of the physical changes it undergoes. The feelings are mostly of a very subtle nature, pertain-ing to the the normal working of the mind, which often an abhyasi fails to take note of. Often abhyasis when questioned whether or not they feel soome peace and calmness in their mind, do acknowledge it but then they say again that thay feel nothing else besides. In all such cases it is therefore evident that peace of mind, the essential feature of a spiritual life is really of no value to them. What they are hunting af-ter is either some sort of charming dream-like vision or some miraculous working in their physical self or perhaps a state of coma, in order to convince them of the effect of pranahuti. Really such type of per-

sons are in no way fit for this type of spiritual training.

Pranahuti is a yogic process by which the master through his finer powers of soul enlivens and accelerates the action of the dormant intuitional forces of the abhyasi towards his proper making. At higher stages of spiritual advancement, the intuitional powers of a yogi having been relieved of the grosser effect of materiality, get transformed into divine with the result that the divine powers in him get released which he can utilise for the accomplishment of the master's work. His powers of soul grow stronger. His actions become spontaneous and automatic, corresponding closely with those of the Nature. His thoughts remain concentrated all the while and his will grows wonderfully strong. Under such conditions the 'power' keeps on radiating from him all the while, affecting all those around him with the result that they too begin to feel something of it in them, though it may be only for the time being.

But when one of special calibre, is capable of directing its flow upon others, through the action of his thought or will, it becomes strongest and most effective. It is then known as pranahuti or yogic transmission. This is a highly effective process and quite scientific and natural too.

Tour Programme

The tour Programme of the president, Shri Ram chandra ji begins from about Nov. 20, 1964. The following branches and centres of the Mission, besides some other places are proposed to be visited during the tour. The programme is expected to extend upto about Jan. 20, 1965.

The main purpose of the tour is to offer to the associates at far distant places, a chance of closer contact with the Master to help them on in their pursuit.. Associates at places not included in the programme are therefore requested to see him at any of the places of his visit during the time of his stay. Details about time and dates have been intimated to the centres and the branches of the Mission (about the time.)

Places to be visited—

Delhi	Banglore
Vijayavada	Tiruvannamalai
Hyderabad	Trichnopoly
Bidar	Tirupati
Seram	Cuddapah
Gulbarga	Madras
Bijapur	Bhupal
Hassan	Orai
Mysore	Lucknow

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur U. P.

Printed At Lala Printing Press, Sitapur. U. P.
For
Shri Ram Chandra Mission, Publication Deptt. Shajahanpur, U. P.